वक्तव्य

जैन धर्म की शिक्षा है कि अपनी जीवन यात्रा में शान्ति, निर्भयता और वीरता के साथ सम्पन्न करो। न अन्य किसी प्राणी को भयभीत दुखी अशान्त करो और न स्वयं भीरु त्रस्त और व्याकुल रहो। इसी प्रकार परलोक यात्रा भी शान्त निर्भय निर्वैर भाव से करो। मृत्यु से भयभीत हो कर कायर न बनो, मृत्यु को अनिवार्य जानकर उसका स्वागत करो। वीर मरण में शरीर का त्याग करो।

जिस तरह जैन ग्रन्थों में जन्म उत्सव का विधान है उसी तरह उनमें मरण उत्सव का भी विधान है। परभव की आयु का बन्ध प्रायः अन्तिम समय में हुआ करता है अतः उस समय शुभ आयु उपार्जन करने के लिये स्वच्छ निर्मोह शान्त निर्भय परिणाम होने अत्यन्त आवश्यक हैं। मृत्यु का दुःख सबसे अधिक होता है अतः उस दुख की कायरता से आत्मा को सुरक्षित रखने के लिये उस समय प्रबल शान्त वैराग्यमयी भावना का होना परम आवश्यक है। अतः स्वच्छ परिणाम मरण समय में रहने से आत्मा को आगामी भव के लिये शुभ आयु प्राप्त होती है।

शान्त निर्मोह निर्भय भाव से मृत्यु के आलिङ्गन करने का नाम ही वीरमरण, समाधिमरण, सन्यास मरण या मृत्यु महोत्सव है।

इस वीर मरण का विधान और विधि सरल से इस पुस्तक में लिखी गई है। श्री हिन्दू विश्व विद्यालय वाराणसी के प्राध्यापक न्यायाचार्य श्री पं॰ दरबारी लाल जी कोठिया एम ए ने यह पुस्तक लिखकर जन साधारण के हितार्थ एक उपयोगी कार्य किया है अतः वे धन्यवाद के पात्र हैं। आशा है अन्य उपयोगी साहित्य पर भी आप लेखनी चलाने का प्रयास करेंगे।

—अजित कुमार शास्त्री
मन्त्री—भा० दि० जैन शास्त्री परिषद्

जैन दर्शनमें सल्लेखना : एक अनुशीलन

पृष्ठभूमि

जन्मके साथ मृत्युका और मृत्युके साथ जन्मका अनादि प्रवाह सम्बद्ध है। जो उत्पन्न होता है उसकी मृत्यु भी अवश्य होती है और जिसकी मृत्यु होती है उसका जन्म भी होता है[1]। इस तरह जन्म और मरणका प्रवाह तबतक प्रवाहित रहता है जबतक जीवको मुक्ति नहीं होती। इस प्रवाहमें जीवोंको नाना कष्ट और दुःखोंको भोगना पड़ता है। परन्तु राग-द्वेष और इन्द्रिय विषयोंमें आसक्त व्यक्ति इस ध्रुव सत्यको जानते हुए भी उसमें मुक्ति पानेकी ओर लक्ष्य नहीं देते। प्रत्युत जब कोई पैदा होता है तो उसका वे 'जन्मोत्सव' मनाते तथा हर्ष व्यक्त करते हैं। और जब कोई मरता है तो उसकी मृत्युपर आंसू बहाते एवं शोक प्रकट करते हैं।

पर संसार-विरक्त मुमुक्षु सन्तोंकी वृत्ति इससे भिन्न होती है। वे अपनी मृत्युको अच्छा मानते हैं और यह सोचते हैं कि जीर्ण-शीर्ण शरीररूपी पिंजरेसे आत्माको छुटकारा मिल रहा है[3]। अतएव जैन मनीषियोंने उनकी मृत्युको 'मृत्युमहोत्सव' के रूपमें वर्णन किया है[4]। इस वर्णनमें कोई अत्युक्ति नहीं है। यथार्थमें साधारण लोग संसार (विषय-कषायके पोषक चेतनाचेतन पदार्थों) को आत्मीय समझते हैं। अतः उनके छोड़नेमें उन्हें

---

१ 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।' —गीता २-२७।

२ ३ संसारासक्तचित्तानां मृत्युर्भीत्यै भवेन्नृणाम्।
मोदायते पुनः सोऽपि ज्ञान-वैराग्यवासिनाम्॥ —मृत्युमहोत्सव श्लो० १७।

४ ज्ञानिन् ! भयं भवेत्कस्मात्प्राप्ते मृत्युमहोत्सवे।
स्वरूपस्थः पुरं याति देही देहान्तरस्थितिम्॥ —मृत्युमहोत्सव श्लो० १०।

दुःखका अनुभव होता है और उनके मिलनेमें हर्ष होता है। परन्तु शरीर और आत्माके भेदको समझनेवाले ज्ञानी वीतरागी सन्त न केवल विषय-कषाय-की पोषक बाह्य वस्तुओंको ही अपितु अपने शरीरको भी पर-अनात्मीय मानते हैं। अतः शरीरको छोड़नेमें उन्हें दुःख न होकर प्रमोद होता है। वे अपना वास्तविक निवास इस द्वन्द्वप्रधान दुनियाको नहीं मानते किन्तु मुक्तिको समझते हैं और सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र, तप त्याग संयम आदि आत्मीय गुणोंको अपना यथार्थ परिवार मानते हैं। फलतः सन्तजन यदि अपने पौद्गलिक शरीरको त्यागकर मृत्युमहोत्सव मनायें तो कोई आश्चर्य नहीं है। वे अपने रुग्ण अशक्त जर्जरित कुछ क्षणोंमें जानेवाले और विपद्-ग्रस्त जीर्ण-शीर्ण शरीरको छोड़ने तथा नये शरीरको ग्रहण करनेमें उसी तरह उत्सुक एवं प्रमुदित होते हैं जिस तरह कोई व्यक्ति अपने पुराने मलिन जीर्ण और काम न दे सकनेवाले वस्त्रोंको छोड़ने तथा नवीन वस्त्रके परिधानमें अधिक प्रसन्न होता है[1]।

इसी तथ्यको दृष्टिमें रखकर संवेगी जैन श्रावक या जैन साधु अपना मरण सुधारनेके लिए उक्त परिस्थितियोंमें सल्लेखना ग्रहण करता है। वह नहीं चाहता कि उसका शरीर त्याग रोते-बिलपते संक्लेश करते और राग-द्वेषकी अग्निमें झुलसते हुए असावधान अवस्थामें हो, किन्तु दृढ़ शान्त और उज्ज्वल परिणामोंके साथ विवेकपूर्ण स्थितिमें वीरोंकी तरह उसका शरीर छूटे। सल्लेखना मुमुक्षु श्रावक और साधु दोनोंके इसी उद्देश्यकी पूरक है। प्रस्तुतमें उसीके सम्बन्धमें कुछ प्रकाश डाला जाता है।

---

१ जीर्णं देहादिकं सर्वं नूतनं जायते यतः।
स मृत्युः किं न मोदाय सतां सातोत्थितिर्यथा ॥
—मृत्युमहोत्सव श्लो० १८।

गीतामें भी इसी भावको प्रदर्शित किया गया है। यथा—
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥—गीता २-२२।

सल्लेखना और उसका महत्व

'सल्लेखना' शब्द जैन धर्म का पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ है—'सम्यक्कायकषायलेखना सल्लेखना' सम्यक् प्रकार से काय और कषाय दोनोंको कृश करना सल्लेखना है। तात्पर्य यह है कि मरण-समयमें की जाने-वाली जिस क्रिया विशेष द्वारा बाहरी और भीतरी अर्थात् शरीर तथा रागादि दोषोंका उनके कारणोंको कम करते हुए प्रसन्नतापूर्वक बिना किसी दबावके स्वेच्छासे लेखन अर्थात् कृशीकरण किया जाता है उस उत्तम क्रिया-विशेषका नाम सल्लेखना है[1]। उसीको 'समाधिमरण' कहा गया है। यह सल्लेखना जीवनभर आचरित समस्त व्रतों तप और संयमकी संरक्षिका है। इसलिए इसे जैन संस्कृतिमें 'व्रतराज' भी कहा है।

अपने परिणामोंके अनुसार प्राप्त जिन आयु, इन्द्रियों और मन, वचन, काय इन तीन बलोंके संयोगका नाम जन्म है और उन्हींके क्रमशः अथवा सर्वथा क्षीण होनेको मरण कहा गया है। यह मरण दो प्रकारका है। एक नित्य मरण और दूसरा तद्भव-मरण। प्रतिक्षण जो आयु आदिका ह्रास होता रहता है वह नित्य-मरण है तथा उत्तरपर्यायकी प्राप्तिके साथ पूर्व पर्यायका नाश होना तद्भव मरण है[1]। नित्य मरण तो निरन्तर होता रहता है, उसका

---

१ (क) सम्यक्काय-कषाय-लेखना सल्लेखना। कायस्य बाह्यस्याभ्यन्तराणां च कषायाणां तत्कारणहापनक्रमेण सम्यग्लेखना सल्लेखना।

—पूज्यपाद सर्वार्थसिद्धि ७-२२।

(ख) मरणान्तिकी सल्लेखना जोषिता

—आ० गृद्धपिच्छ तत्त्वार्थसू० ७-२२।

१ स्वायुरिन्द्रियबलसंक्षयो मरणम्। स्वपरिणामोपात्तस्यायुष इन्द्रियाणां बलानां च कारणवशात् संक्षयो मरणमिति मन्यन्ते मनीषिणः। मरणं द्विविधम् नित्यमरणं तद्भवमरणं चेति। तत्र नित्यमरणं समये समये स्वायुरादीनां निवृत्तिः। तद्भवमरणं भवान्तरप्राप्त्यनन्तरोपश्लिष्टं पूर्वभवविगमनम्।—

—अकलङ्कदेव तत्त्वार्थवा० ७-२२।

आत्म-परिणामोंपर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता । पर तद्भव-मरणका कषायों एवं विषय-वासनाओंकी न्यूनाधिकता के अनुसार आत्म-परिणामोंपर अच्छा या बुरा प्रभाव अवश्य पड़ता है । इस तद्भव मरणको सुधारने और अच्छा बनानेके लिए ही पर्यायके अन्तमें 'सल्लेखना' रूप अलौकिक प्रयत्न किया जाता है । सल्लेखनासे अनन्त संसारकी कारणभूत कषायोंका आवेग उपशमित अथवा क्षीण हो जाता है तथा जन्म मरणका प्रवाह बहुत ही अल्प हो जाता अथवा बिलकुल सूख जाता है । जैन लेखक आचार्य शिवार्य सल्लेखना धारणपर बल देते हुए कहते हैं[1] कि जो भद्र एक पर्यायमें समाधिमरण पूर्वक मरण करता है वह संसारमें सात-आठ पर्यायसे अधिक परिभ्रमण नहीं करता—उसके बाद वह अवश्य मोक्ष पा लेता है । आगे वे सल्लेखना और सल्लेखना धारकका महत्त्व बतलाते हुए यहाँ तक लिखते हैं कि 'सल्लेखना धारक (क्षपक) भक्तिपूर्वक दर्शन वन्दन और वैयावृत्य आदि करनेवाला व्यक्ति भी देवगतिके सुखोंको भोगकर अन्तमें उत्तम स्थान (निर्वाण) को प्राप्त करता है ।

तेरहवीं शताब्दीके प्रौढ़ लेखक पण्डितप्रवर आशाधरजीने भी इसी बातको बड़े ही प्राञ्जल शब्दोंमें स्पष्ट करते हुए कहा है[3] कि स्वस्थ शरीर पथ्य आहार और विहार द्वारा पोषण करने योग्य है तथा रुग्ण शरीर योग्य औषधियों द्वारा उपचारके योग्य है । परन्तु योग्य आहार विहार और औषधोपचार करते हुए भी शरीरपर उनका अनुकूल असर न हो

---

१ एगम्मि भवग्गहणे समाधिमरणेण जो मदो जीवो ।
ण हु सो हिण्डदि बहुसो सत्तट्ठ भवे पमत्तूण ॥ —भगवती आरा०

२ सल्लेहणाए मूलं जो वच्चइ तिव्व भत्ति राएण ।
भोत्तूण य देव सुखं सो पावदि उत्तमं ठाणं ॥—भगवती आरा०

३ कायः स्वस्थोऽनुवर्त्यः स्यात्प्रतिकार्यश्च रोगितः ।
उपकारं विपर्यस्यंस्त्याज्यः सद्भिः खलो यथा ॥
— आशाधर सागारधर्मा० ८-६

प्रस्तुत रोग बढ़ता ही जाय तो ऐसी स्थितिमें उस शरीरका दुष्टके समान त्याग करना ही श्रेयस्कर है। वे असावधानी एवं आत्मघातक पापसे बचनेके लिए कुछ ऐसी बातोंकी ओर भी संकेत करते हैं जिनसे रोग शीघ्र और अवश्य मरणकी सूचना मिल जाती है। उस हालतमें व्रती श्रावकको धर्मकी रक्षाके लिए सल्लेखनामें लीन हो जाना ही सर्वोत्तम है[1]।

इसी तरह एक अन्य विद्वान्‌ने भी प्रतिपादन किया है कि जिस शरीरका बल प्रतिदिन क्षीण हो रहा है, भोजन उत्तरोत्तर घट रहा है और रोगादिकके प्रतिकार करनेकी शक्ति नहीं रही है वह शरीर ही विवेकी पुरुषोंको यथाख्यात चारित्र (सल्लेखना) के समयको इंगित करता है[2]।

मृत्युमहोत्सवकारकी दृष्टिमें समस्त श्रुताभ्यास, घोर तपश्चरण और कठोर व्रताचरणकी सार्थकता तभी है जब मुमुक्षु श्रावक अथवा साधु विवेक जागृत हो जानेपर सल्लेखनापूर्वक शरीरत्याग करता है। वे लिखते हैं—

जो फल बड़े-बड़े व्रती पुरुषोंको कायक्लेशादि तप, अहिंसादि व्रत धारण करनेपर प्राप्त होता है वह फल अन्त समयमें सावधानीपूर्वक किये गये समाधिमरणसे जीवोंको सहजमें प्राप्त हो जाता है। अर्थात् जो आत्म-विशुद्धि अनेक प्रकारके तपादिसे होती है वह अन्त समयमें समाधिपूर्वक शरीर-त्यागसे प्राप्त हो जाती है।

---

१ देहादिवैकृतैः सम्यङ्निमित्तैस्तु सुनिश्चिते ।
मृत्यावाराधनामग्नमतेर्दूरे न तत्पदम् ॥—सागारधर्मा० ८-१०।

२ प्रतिदिवसं विजहद्बलमुज्झद्भुक्तिं त्यजत्प्रतीकारम् ।
वपुरेव नृणां निगदति चरमचरित्रोदयसमयम् ॥ आत्म स० पृ० ११६

३ यत्फलं प्राप्यते सद्भिर्व्रतायासविडम्बनात् ।
तत्फलं सुखसाध्यं स्यान्मृत्युकाले समाधिना ॥
तप्तस्य तपसश्चापि पालितस्य व्रतस्य च ।
पठितस्य श्रुतस्यापि फलं मृत्युः समाधिना ॥—मृत्युमहोत्सव श्लोक २१

दीर्घ कालतक किये गये उग्र तपोंका फल हुए अनाशक्ति और निरन्तर अभ्यास किए हुए शास्त्रज्ञानका एक मात्र फल शान्तिके साथ आत्मानुभव करते हुए समाधिपूर्वक मरण करना है।

विक्रमकी दूसरी-तीसरी शताब्दीके विद्वान् स्वामी समन्तभद्रकी मान्यतानुसार जीवनमें आचरित तपोंका फल वस्तुतः अन्त समयमें गृहीत सल्लेखना ही है। अतः वे उसे पूरी शक्तिके साथ धारण करनेपर जोर देते हैं[1]।

आचार्य पूज्यपाद देवनन्दि भी सल्लेखनाके महत्त्व और आवश्यकताको बतलाते हुए लिखते हैं कि मरण किसीको इष्ट नहीं है[2]। जैसे अनेक प्रकारके सोना-चाँदी बहुमूल्य वस्त्रों आदिका व्यवसाय करने वाले किसी व्यापारीको अपने उस घरका विनाश कभी इष्ट नहीं है जिसमें उक्त बहुमूल्य वस्तुएँ रखी हुई हैं। यदि कदाचित् उसके विनाशका कारण (अग्निका लगना, बाढ़ आजाना या राज्यमें विप्लवका हो जाना आदि) उपस्थित हो जाय तो वह उसकी रक्षाका पूरा उपाय करता है और जब रक्षाका उपाय सफल होता हुआ दिखाई नहीं देता तो घरमें रखे हुए उन बहुमूल्य पदार्थोंको बचानेका भरसक प्रयत्न करता है और घरको नष्ट होने देता है। उसी तरह व्रत-शीलादि गुणोंका अर्जन करने वाला श्रावक या साधु भी उन व्रतादि गुण-रत्नोंके आधारभूत शरीरकी पथ्य आहार औषधादि द्वारा रक्षा करता है, उसका नाश उसे इष्ट नहीं है। पर दैववश शरीरमें उसके विनाश-कारण (असाध्य रोगादि)

---

1 अन्तःक्रियाधिकरणं तपःफलं सकलदर्शिनः स्तुवते।
तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम् ॥—रत्नकरण्डश्रा० ५ २।

2 मरणस्यानिष्टत्वात्। यथा वणिजो विविधपण्यदानादानसंचयपरस्य स्वगृहविनाशोऽनिष्टः। तद्विनाशकारणे च कुतश्चिदुपस्थिते यथाशक्ति परिहरति। दुष्परिहारे च पण्यविनाशो यथा न भवति तथा यतते। एवं गृहस्थोऽपि व्रतशीलपुण्यसंचये प्रवर्तमानस्तदाश्रयस्य न पातमभिवाञ्छति। तदुपप्लवकारणे चोपस्थिते स्वगुणाविरोधेन परिहरति। दुष्परिहारे च यथा स्वगुणविनाशो न भवति तथा प्रयतते। —सर्वार्थसि० ७-२२।

उपस्थित हो जाय तो वह उनको दूर करने का यथासाध्य प्रयत्न करता है। परन्तु जब देखता है कि उनका दूर करना अशक्य है और शरीर की रक्षा अब सम्भव नहीं है तो उन बहुमूल्य व्रत-शीलादि आत्म-गुणों की सल्लेखना द्वारा रक्षा करता है और शरीर को नष्ट होने देता है।

इन उल्लेखों से सल्लेखनाकी उपयोगिता आवश्यकता और महत्ता सहज में जानी जा सकती है। लगता है कि इसी कारण जैन-संस्कृति में सल्लेखना पर बड़ा बल दिया गया है। जैन लेखकों ने अकेले इसी विषय पर प्राकृत संस्कृत हिन्दी आदि भाषाओं में अनेकों स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे हैं। आचार्य शिवार्य की भगवती आराधना इस विषय का एक अत्यन्त प्राचीन और महत्त्वपूर्ण विशाल प्राकृत-ग्रन्थ है। इसी प्रकार मृत्युमहोत्सव, समाधिमरणोत्साहदीपक, समाधिमरणपाठ आदि नामों से संस्कृत तथा हिन्दी में भी इसी विषय पर अनेक कृतियां उपलब्ध हैं।

सल्लेखनाका काल, प्रयोजन और विधि—

यद्यपि ऊपरके विवेचनसे सल्लेखनाका काल और प्रयोजन ज्ञात हो जाता है तथापि उसे यहाँ और भी अधिक स्पष्ट किया जाता है। आचार्य समन्तभद्रस्वामीने सल्लेखनाधारणका काल (स्थिति) और उसका प्रयोजन बतलाते हुए लिखा है।

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥

—रत्नकरण्डश्रावका० ५—१

'अपरिहार्य उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा और रोग—इन अवस्थाओं में आत्मधर्म की रक्षा के लिए जो शरीर का त्याग किया जाता है वह सल्लेखना है।

स्मरण रहे कि जैनव्रती-श्रावक या साधु की दृष्टि में शरीर का उतना महत्त्व नहीं है जितना आत्मा का है क्योंकि उसने भौतिक दृष्टि को गौण और आध्यात्मिक दृष्टि को उपादेय माना है। अतएव वह भौतिक शरीर की उक्त उपसर्गादि सङ्कटावस्थाओं में जो साधारण क्षति का

विचलित कर देने वाला होता है धर्म से च्युत न होना हुआ उसकी रक्षा के लिए समभावपूर्वक शरीर का उत्सर्ग कर देता है। वास्तव में इस प्रकार का विवेक बुद्धि और निर्मोहभाव उसे अनेक वर्षों के चिरंतन अभ्यास और साधना द्वारा ही प्राप्त होता है। इसी से सल्लेखना एक असामान्य अधिकारी का है जिसे उच्च मनःस्थिति के व्यक्ति ही धारण कर पाते हैं। सच बात यह है कि शरीर और आत्मा के मध्य का अन्तर (जो कि जड़ देह और शाश्वत चेतन आत्मा के बीच है) जान लेने पर सल्लेखना-धारणा कठिन नहीं रहता। उस अन्तर का ज्ञाता यह स्पष्ट जानता है कि शरीर का नाश अवश्य होगा उसके लिये अविनश्वर फलदायी धर्म का नाश नहीं करना चाहिये क्योंकि शरीर का नाश हो जाने पर तो दूसरा शरीर पुनः मिल सकता है। परन्तु आत्मधर्म का नाश होने पर उसका पुनः मिलना दुर्लभ है। अतः जो शरीर मोही नहीं होते वे आत्मा और अनात्मा के अन्तर को जानकर समाधिमरण द्वारा आत्मा से परमात्मा की ओर बढ़ते हैं। जैन सल्लेखना मरण नरक निर्दिष्ट है इसी से प्रत्येक जैन देवोपासना के अन्त में प्रतिदिन यह पवित्र कामना करता है।

हे जिनेन्द्र! आप जगद् बन्धु होने के कारण मैं आपके चरणों की शरण में आया हूँ। उसके प्रभाव से मेरे सब दुःखों का अभाव हो, दुःखों के कारण ज्ञानावरणादि कर्मों का नाश हो और कर्मनाश के कारण समाधिमरण के कारणभूत सम्यक्बोध (विवेक) का लाभ हो।

जैन संस्कृति में सल्लेखना का यही आध्यात्मिक उद्देश्य एवं प्रयोजन स्वीकार किया गया है। लौकिक भोग या उपभोग या इन्द्रादि पद की उसमें

१ नावश्यं नाशिने हिंस्यो धर्मो देहाय कामदः।
देहो नष्टः पुनर्लभ्यो धर्मस्त्वत्यन्तदुर्लभः ॥ —सा० ध० ८-७

२ दुक्खखओ कम्मखओ समाहिमरणं च बोहिलाहो य।
मम होउ जगद्बंधव! तव जिणवर चरणसरणेण॥
—भारती पू० पृ० ८७

कामना नहीं की गई है। मुमुक्षु श्रावक या साधु ने जो अब तक व्रत तपादि
पालन का घोर प्रयत्न किया है, कष्ट सहे हैं आत्मशक्ति बढ़ाई है और
असाधारण आत्म ज्ञान को जागृत किया है उसपर सुन्दर कलश रखने के
लिये वह अन्तिम समय में भी प्रमाद नहीं करना चाहता। अतएव व
जागृत रहता हुआ सल्लेखना में प्रवृत्त होता है –

सल्लेखनावस्था में उसे कैसी प्रवृत्ति करना चाहिए और उसकी विधि
क्या है? इस सम्बन्ध में भी जैन लेखकों ने विस्तृत और विशद विवेचन किय
है। आचार्य समन्तभद्र ने सल्लेखना की निम्न प्रकार विधि बतलाई है[1] –

सल्लेखना-धारी सबसे पहले इष्ट वस्तुओं से राग अनिष्ट वस्तुओं से द्वेष
स्त्री पुत्रादि प्रियजनों में ममत्व और धनादि से स्वामित्व का त्याग करके
मन को शुद्ध बनाये। इसके पश्चात् अपने परिवार तथा सम्बन्धित व्यक्तिय
से जीवन में हुए अपराधों की क्षमा कराये और स्वयं भी उन्हें प्रिय वचन
बोलकर क्षमा करे।

इसके अनन्तर वह स्वयं किये, दूसरों से कराये और अनुमोदना किय
हिंसादि पापों की निश्छल भाव से आलोचना (उन पर खेद प्रकाशन) करे
तथा मृत्युपर्यन्त महाव्रतों का अपने में आरोप करे।

इसके अतिरिक्त आत्मा को निर्बल बनाने वाले शोक भय अवसाद
ग्लानि, कलुषता और आकुलता जैसे आत्म विकारों का भी परित्याग कर
दे तथा आत्म-बल एवं उत्साह को प्रकट करके अमृतोपम शास्त्र-वचनों
द्वारा मन को प्रसन्न रखे।

इस प्रकार कषाय को शान्त अथवा क्षीण करते हुए शरीर को भी
कृश करने के लिए सल्लेखना में प्रथमतः अन्नादि आहार का फिर दूध

---

१ स्नेहं वैरं सङ्गं परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः।
स्वजनं परिजनमपि च क्षान्त्वा क्षमयेत्प्रियैर्वचनैः॥
आलोच्य सर्वमेनः कृत-कारितमनुमतं च निर्व्याजम्।
आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निःशेषम्॥
शोकं भयमवसादं क्लेदं कालुष्यमरतिमपि हित्वा।
सत्त्वोत्साहमुदीर्य च मनः प्रसाद्यं श्रुतैरमृतैः॥

छाछ आदि पेय पदार्थों का त्याग करे। इसके अनन्तर काँजी या गर्म जल पीने का अभ्यास करे।

अन्त में उन्हें भी छोड़कर शक्तिपूर्वक उपवास करे। इस तरह उपवास करते एवं पंचपरमेष्ठी का ध्यान करते हुए पूर्ण विवेक के साथ सावधानी से शरीर को छोड़े।

इस अन्तरङ्ग और बाह्य विधि से सल्लेखनाधारी आनन्द ज्ञानस्वभाव आत्मा का साधन करता है और वर्तमान पर्याय के विनाश से चिन्तित नहीं होता किन्तु भावी पर्याय को अधिक सुखी शान्त, शुद्ध एवं उच्च बनाने का पुरुषार्थ करता है। नश्वर से अनश्वर का लाभ हो तो उसे कौन बुद्धिमान् छोड़ना चाहेगा ? फलतः सल्लेखना धारक उन पाँच दोषों से भी अपने को बचाता है जिनसे उसके सल्लेखना-व्रत में दूषण लगने की सम्भावना रहती है। वे पाँच दोष निम्न प्रकार बतलाये गये हैं² —

सल्लेखना ले लेने के बाद जीवित रहने की आकांक्षा करना, कष्ट न सह सकने के कारण शीघ्र मरने की इच्छा करना, भयभीत होना, स्नेहियों का स्मरण करना और अगली पर्याय में सुखों की चाह करना—ये पाँच सल्लेखनाव्रत के दोष हैं जिन्हें 'अतिचार' कहा गया है।

सल्लेखना का फल

सल्लेखना-धारक धर्म का पूर्ण अनुभव और लाभ लेनेके कारण नियमसे

आहारं परिहाप्य क्रमशः स्निग्धं विवर्द्धयेत्पानम् ।
स्निग्धं च हापयित्वा खरपानं पूरयेत्क्रमशः ॥

खरपानं हापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या ।
पञ्चनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत्सर्वयत्नेन ॥'—रत्नक० श्रा० ५, ३-७।

² जीवितमरणाशंसे भयमित्रस्मृति निदान-नामानः ।
सल्लेखनातिचाराः पञ्च जिनेन्द्रैः समादिष्टाः ॥—रत्नक० श्रा० ५,८

निःश्रेयस अथवा अभ्युदय प्राप्त करता है। समन्तभद्र स्वामी ने सल्लेखना का फल बतलाते हुए लिखा है[१] —

उत्तम सल्लेखना करने वाला धर्मरूपी अमृत का पान करने के कारण समस्त दुःखों से रहित होकर या तो वह निःश्रेयस को प्राप्त करता है और या अभ्युदय को पाता है जहाँ उसे अपरिमित सुखों की प्राप्ति होती है।

विद्वद्वर पण्डित आशाधरजी भी कहते हैं[२] कि जिस महापुरुष ने संसार परम्परा के नाशक समाधिमरण को धारण किया है उसने धर्मरूपी महान् निधि को परभव में जाने के लिये अपने साथ ले लिया है जिससे वह उसी तरह सुखी रहे जिस प्रकार एक ग्राम से दूसरे ग्राम को जाने वाला व्यक्ति पास में पर्याप्त पाथेय होने पर निराकुल रहता है। इस जीव ने अनन्त बार मरण किया किन्तु समाधि सहित पुण्य मरण कभी नहीं किया जो सौभाग्य से या पुण्योदय से अब प्राप्त हुआ है। सर्वज्ञदेव ने इस समाधि सहित पुण्य मरण की बड़ी प्रशंसा की है क्योंकि समाधिपूर्वक मरण करने वाला महान् आत्मा निश्चय से संसाररूपी पिंजरे को तोड़ देता है—उसे फिर संसार के बन्धन में नहीं रहना पड़ता है।'

सल्लेखना में सहायक और उनका महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य

आराधक जब सल्लेखना ले लेता है, तो वह उसमें बड़े आदर और प्रेम

---

१ निःश्रेयसमभ्युदयं निस्तीरं दुस्तरं सुखाम्बुनिधिम्।
निःपिबति पीतधर्मा सर्वैर्दुःखैरनालीढः ॥—रत्नक० १२९।

२ सहगामि कृतं तेन धर्मसर्वस्वमात्मनः।
समाधिमरणं येन भवविध्वंसि साधितम् ॥
प्राग्यन्तुनाऽमुनाऽनन्ताः प्राप्तास्तद्भवमृत्यवः।
समाधिपुण्यो न परं परमश्चरमक्षणः ॥
परं शंसन्ति माहात्म्यं सर्वज्ञाश्चरमक्षणे।
यस्मिन्समाहिता भव्या भञ्जन्ति भव-पञ्जरम् ॥
—सा० ध० ७-५८ ८-२७, २८।

और श्रद्धा के साथ सन्नद्ध रहता है तथा उत्तरोत्तर पूर्ण सावधानी रखता हुआ आत्मसाधना में गतिशील रहता है। उसके इस पुण्य कार्य में जिस तक महान् यज्ञ कहा गया है पूर्ण सफल बनाने और उसे अपने पवित्र पथ से विचलित न होने देने के लिए निर्यापकाचार्य (समाधिमरण कराने वाले अनुभवी मुनि) उसकी सल्लेखना में सम्पूर्ण शक्ति एवं आदर के साथ उसे सहायता पहुंचाते हैं। और समाधिमरण में उसे सुस्थिर रखते हैं। वे सदा उसे तत्त्वज्ञानपूर्ण मधुर उपदेश करते तथा शरीर और संसार की असारता एवं क्षणभंगुरता दिखलाते हैं जिससे वह उन में आसक्त न हो जिन्हें वह हेय समझकर छोड़ चुका या छोड़ने का संकल्प कर चुका है। उनकी पुनः चाह न करे। आचार्य शिवार्य ने भगवती आराधना (गा० ६५०-३७६) में समाधिमरण कराने वाले इन निर्यापक मुनियों का बड़ा सुन्दर और विशद वर्णन किया है। उन्होंने लिखा है —

वे मुनि (निर्यापक) धर्मप्रिय दृढ़श्रद्धानी पापभीरु परीषह-जेता, देश-काल ज्ञाता, योग्यायोग्य विचारक न्यायमार्ग मर्मज्ञ अनुभवी स्वपर-तत्त्वविवेकी विश्वासी और परम उपकारी होते हैं। उनकी संख्या अधिकतम ४८ और न्यूनतम २ होती है।

'४८ मुनि क्षपक की इस प्रकार सेवा करें। ४ मुनि क्षपक का उठाने बैठाने आदि रूप से शरीर की टहल करें। ४ मुनि धर्म श्रवण करायें। ४ मुनि भोजन और ४ मुनि पान करायें। ४ मुनि देख भाल रखें। ४ मुनि शरीर के मल मूत्रादि क्षेपण में तत्पर रहें। ४ मुनि वसतिका के द्वार पर रहें जिससे अनेक लोग क्षपक के परिणामों में क्षोभ न कर सकें। ४ मुनि क्षपक की आराधना को सुनकर आये लोगों को सभा में धर्मोपदेश द्वारा सन्तुष्ट करें। ४ मुनि रात्रि में जागें। ४ मुनि देश की ऊँच-नीच स्थिति के ज्ञान में तत्पर रहें। ४ मुनि बाहर से आये गयों से बातचीत करें। और ४ मुनि क्षपक के समाधिमरण में विघ्न करने की सम्भावना से आये अन्य वादियों से वाद (शास्त्रार्थ द्वारा धर्म प्रभावना) करें। इस प्रकार ये निर्यापक मुनि क्षपककी समाधिमें पूर्ण प्रयत्नसे सहायता करते हैं। भरत और

ऐरावत क्षेत्रों में काल की विषमता होने से जैसा अवसर हो और जितनी विधि बन जाये तथा जितने गुणों के धारक निर्यापक मिल जायें उतने गुणों वाले निर्यापकों से भी समाधि करायें यह अभीष्ट है। पर एक निर्यापक नहीं होना चाहिये कम से कम दो होना चाहिये क्योंकि अकेला एक निर्यापक क्षपक की २४ घण्टे सेवा करने पर थक जाएगा और क्षपक की समाधि अच्छी तरह नहीं करा सकेगा।[1]

इस कथन में दो बातें प्रकाश में आती हैं। एक तो यह कि समाधि मरण कराने के लिये दो से कम निर्यापक नहीं होना चाहिये। सम्भव है कि क्षपक की समाधि अधिक दिन तक चले और उस दशा में यदि निर्यापक एक हो तो उसे विश्राम नहीं मिल सकता। अतः कम से कम दो निर्यापक तो होना ही चाहिये। दूसरी बात यह कि प्राचीन काल में मुनियों की इतनी बहुलता थी कि एक एक मुनि की समाधि में ४८ ४८ मुनि निर्यापक होते थे और क्षपक की समाधि को वे निर्विघ्न सम्पन्न कराते थे। ध्यान रहे कि यह *साधुओं की समाधि का मुख्यतः वर्णन है। श्रावकों की समाधि का वर्णन* यहाँ गौण है।

ये निर्यापक क्षपक को जो कल्याणकारी उपदेश देते तथा उसे सल्लेखना में सुस्थिर रखते हैं उसका पण्डित आशाधर जी ने बड़ा सुन्दर वर्णन किया है।[2] वह कुछ यहाँ दिया जाता है —

---

१ पियधम्मा दढधम्मा संविग्गावज्जभीरुणो धीरा।
छंदण्हू पच्चइया पच्चक्खाणम्मि य विदण्हू ॥
कप्पाकप्पे कुसला समाधिकरणुज्जुदा सुदरहस्सा।
गीदत्था भयवंतो अडदालीसं (४८) तु णिज्जवया ॥
णिज्जवया य दोण्णि वि होंति जहण्णेण कालसंसयणा।
एक्को णिज्जावयओ ण होइ कइया वि जिणसुत्ते ॥
शिवार्य भगवती आराधना।

२ सागारधर्मामृत ८-४८ से ८-१०७।

'हे क्षपक ! लोक मे ऐसा कोई पुद्गल नही, जिसका तुमने एक मे अधिक बार भोग न किया हो, फिर भी वह तुम्हारा कोई हित नहीं कर सका । परवस्तु क्या कभी आत्मा का हित कर सकती है ? आत्मा का हित तो उसी के ज्ञान सयम और श्रद्धादि गुण ही कर सकते हैं। अत बाह्य वस्तुओ से मोह को त्यागो विवेक तथा सयम का आश्रय लो । और सदव यह विचार करो कि मैं अन्य हू और पुद्गल अन्य है । मै चेतन हूँ ज्ञाता-द्रष्टा हूँ और पुद्गल अचेतन है ज्ञान-दर्शन रहित है मैं ज्ञान दर्शन हू और पुद्गल ऐसा नही है

हे क्षपकराज ! जिस सल्लेखना को तुमने अब तक धारण नही किया था उसे धारण करने का सुअवसर तुम्हें आज प्राप्त हुआ है। उस आत्म हितकारी सल्लेखना मे कोई दोष न आने दो। तुम परीषहो—क्षुधादि के कष्टों से मत घबड़ाओ। व तुम्हारे आत्मा का कुछ बिगाड़ नहीं सकते। उन्ह तुम सहनशीलता एव धीरता से सहन करो और उनके द्वारा कर्मों की असख्य गुणी निर्जरा करो ।

'हे आराधक ! अत्यन्त दु खदायी मिथ्यात्व का दमन करो सुखदायी सम्यक्त्व का आराधन करो, पचपरमेष्ठी का स्मरण करो, उनके गुणो म सतत अनुराग रखो और अपने शुद्ध ज्ञानोपयोग मे लीन रहो। अपने महाव्रतों की रक्षा करो, कषायो को जीतो इन्द्रियों को वश में करो सदव आत्मा मे ही आत्मा का ध्यान करो, मिथ्यात्व के समान दु खदायी और सम्यक्त्व के समान सुखदायी तीन लोक मे अ य कोई वस्तु नहीं है। देखो, धनदत्त राजा का सध-श्री मत्री पहले सम्यग्दृष्टि था पीछे उसने सम्यक्त्व की विराधना की और मिथ्यात्व का सेवन किया, जिसके कारण उसकी आँखें फूट गईं और ससार चक्र में उसे घूमना पड़ा। राजा श्रेणिक तीव्र मिथ्या दृष्टि था, किन्तु बाद को उसने सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया, जिसके प्रभाव से उसने अपनी बधी हुई नरक की स्थिति को कम करके तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध किया और भविष्यत्काल मे वह तीर्थङ्कर होगा ।

इसी तरह हे क्षपक ! जिन्होंने परीषहों एवं उपसर्गों को जीत करके महाव्रतों का पालन किया उन्होंने अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त किया है। सुकमाल मुनि को देखो वे जब वन में तप कर रहे थे और ध्यान में मग्न थे, तो शृगालिनी ने उन्हें कितनी निर्दयता से खाया। परन्तु सुकमाल स्वामी जरा भी ध्यान से विचलित नहीं हुए और घोर उपसर्ग सहकर उत्तम गति को प्राप्त हुए। शिवभूति महामुनि को भी देखो उनके सिर पर आँधी से उड़कर घास का ढेर आ पड़ा परन्तु वे आत्म ध्यान से रत्ती भर भी नहीं डिगे और निश्चल भाव से शरीर त्याग कर निर्वाण को प्राप्त हुऐ। पाँचों पाण्डव जब तपस्या कर रहे थे तो कौरवों के भानजे आदि ने पुरातन वैर निकालने के लिए गरम लोहे की सलाखों से उन्हें बाँध दिया और कीलिया ठोक दीं किन्तु वे अडिग रहे और उपसर्गों को सहकर उत्तम गति को प्राप्त हुए। युधिष्ठिर भीम और अर्जुन मोक्ष गये तथा नकुल और सहदेव सर्वार्थ सिद्धि को प्राप्त हुए। विद्युच्चर ने कितना भारी उपसर्ग सहा और उत्तम सद्गति पाई।

अतः हे आराधक! तुम्हें इन महापुरुषों को अपना आदर्श बनाकर धीर-वीरता से सब कष्टों को सहन करते हुए आत्म-लीन रहना चाहिये जिससे तुम्हारी समाधि उत्तम प्रकार से हो और अभ्युदय तथा निःश्रेयस को प्राप्त करो।

इस लिए निर्यापक मुनी क्षपक को समाधिमरण में निश्चल और सावधान बनाये रखते हैं। क्षपकके समाधिमरण रूप महान् यज्ञ की सफलता में इन निर्यापक साधुवरों प्रमुख एवं अद्वितीय सहयोग होने से उनकी प्रशंसा करते हुए आचार्य शिवायन लिखा है।

वे महानुभाव (निर्यापक मुनि) धन्य हैं जो अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर बड़े आदर के साथ क्षपक की सल्लेखना करते हैं[१]।

१ ते चिय महाणुभावा धण्णा जेहिं च तस्स खवयस्स।
सव्वादर-सत्तीए उवविहिदाराघणा सयला। —भ० आ० गा, २०००

सल्लेखना के भेद

जैन शास्त्रों में शरीर का त्याग तीन तरह से बताया गया है। एक च्युत दूसरा च्यावित और तीसरा त्यक्त

१ च्युत—जो आयु पूर्ण होकर शरीर का स्वतः छूटना है वह च्युत कहलाता है।

२ च्यावित—जो विष भक्षण रक्त क्षय, धातु-क्षय शस्त्र-घात संक्लेश, अग्नि-दाह जल- प्रवेश, गिरि पतन आदि निमित्तकारणों से शरीर छोड़ा जाता है वह च्यावित कहा गया है।

३ त्यक्त—रोगादि हो जाने और उनकी असाध्यता तथा मरण की आसन्नता ज्ञात होने पर जो विवेक सहित संन्यास रूप परिणाम से शरीर छोड़ा जाता है वह त्यक्त है।

इन तीन तरह के शरीर-त्यागों में त्यक्तरूप शरीर-त्याग सर्व-श्रेष्ठ और उत्तम माना गया है क्योंकि त्यक्त अवस्था में आत्मा पूर्ण-तया जागृत एवं सावधान रहता है तथा कोई संक्लेश परिणाम नहीं होता।

इस त्यक्त शरीर-त्याग को ही समाधि- मरण, संन्यास-मरण, पण्डित-मरण वीर-मरण और सल्लेखना-मरण कहा गया है। यह सल्लेखना-मरण (त्यक्त शरीर त्याग) भी तीन प्रकार का प्रतिपादन किया गया है—१ भक्तप्रत्याख्यान, २ इंगिनी और ३ प्रायोपगमन।

१ भक्त प्रत्याख्यान—जिस शरीर-त्याग में अन्न-पान को धीरे धीरे कम करते हुए छोड़ा जाता है उसे भक्त-प्रत्याख्यान या भक्त-प्रतिज्ञा-सल्लेखना कहते हैं। इसका काल-प्रमाण न्यूनतम अन्तमुहूर्त है और अधिकतम बारह वर्ष है। मध्यम अन्तमुहूर्त से ऊपर तथा बारह वर्ष से नीचे का काल है। इसमें आराधक आत्मातिरिक्त समस्त पर छोड़ता है और अपने शरीर की टहल स्वयं भी करता है और दूसरों से भी कराता है।

१ आ॰ नेमिच॰ गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गा॰ ५६, ५७, ५८।

२ इंगिनी[1]—जिस शरीर-त्याग में क्षपक अपने शरीर की सेवा परिचर्या स्वयं तो करता है पर दूसरे से नहीं कराता उसे इंगिनी मरण कहते हैं। इसमें क्षपक स्वयं उठेगा, स्वयं बैठेगा और स्वयं लेटेगा और इस तरह अपनी समस्त क्रियाएं स्वयं ही करेगा। यह पूर्णतया स्वावलम्बन का आश्रय ले लेता है।

३ प्रायोपगमन—जिस शरीर-त्याग में इस सल्लेखना का धारी न स्वयं अपनी सहायता लेता है और न दूसरे की उसे प्रायोपगमन मरण कहते हैं। इसमें शरीर को लकड़ी की तरह छोड़कर आत्मा की ओर ही क्षपक का लक्ष्य रहता है और आत्मा के ध्यान में ही वह लीन रहता है। इस सल्लेखना को साधक तभी धारण करता है जब वह अन्तिम अवस्था में पहुँच जाता है और उसका संहनन (शारीरिक बल और आत्म सामर्थ्य) प्रबल होता है।

भक्तप्रत्याख्यान सल्लेखना के दो भेद:—

इनमें भक्त प्रत्याख्यान सल्लेखना दो तरह की होती है—(१) सविचार भक्त प्रत्याख्यान और (२) अविचार भक्तप्रत्याख्यान। सविचार भक्त प्रत्याख्यान में आराधक अपने संघ को छोड़कर दूसरे संघ में जाकर सल्लेखना ग्रहण करता है। यह सल्लेखना बहुत काल बाद मरण होने तथा शीघ्र मरण न होने की हालत में ग्रहण की जाती है। इस सल्लेखना का धारी 'अर्ह' आदि अधिकारों के विचार पूर्वक उत्साह सहित इसे धारण करता है। इसी से इसे सविचार भक्त प्रत्याख्यान सल्लेखना कहते हैं। पर जिस आराधक की आयु अधिक नहीं है और शीघ्र मरण होने वाला है तथा दूसरे संघ में जाने का समय नहीं है और न शक्ति है वह मुनि दूसरी अविचार भक्त प्रत्याख्यान सल्लेखना लेता है। इसके भी तीन भेद हैं – १ निरुद्ध, २ निरुद्धतर, और ३ परम निरुद्ध।

१ निरुद्ध—दूसरे संघ में जाने की पैरों में सामर्थ्य न रहे, शरीर थक जाय अथवा घातक रोग, व्याधि या उपसर्गादि आ जायें, और अपने

---

१ आ० नेमिचन्द्र गो० क० गा० ६१।

समय में ही बन्द हो जाय तो उस हालत में मुनि इस समाधिमरण को ग्रहण करता है। इसलिए इसे निरुद्ध अविचार भक्तप्रत्याख्यान-सल्लेखना कहते हैं। यह दो प्रकार की है—१ प्रकाश और २ अप्रकाश। लोक में जिनका समाधिमरण विख्यात हो जाये, वह प्रकाश है तथा जिनका विख्यात न हो, वह अप्रकाश है।

२ निरुद्धतर— सर्प, अग्नि, व्याघ्र महिष हाथी, रीछ, चोर, व्यन्तर मूर्छा, दुष्ट पुरुषों आदि के द्वारा मारणान्तिक आपत्ति आ जाने पर आयु का अन्त जानकर निकटवर्ती आचार्यादिक के समीप अपनी गर्हा निन्दा, करता हुआ साधु शरीर त्याग करे तो उसे निरुद्धतर अविचार भक्त प्रत्याख्यान समाधिमरण कहते हैं

३ परमनिरुद्ध—सर्प व्याघ्रादि के भीषण उपसर्ग के आने पर वाणी रुक जाय बोल न निकल सके ऐसे समय में मन से ही अर्हन्तादि पंच परमेष्ठियों के प्रति अपनी आलोचना करता हुआ साधु शरीर त्यागे तो उसे परमनिरुद्ध भक्तप्रत्याख्यान-सल्लेखना कहते हैं।

सामान्य मरण की अपेक्षा समाधिमरण की श्रेष्ठता

आचार्य शिवार्य ने सतरह प्रकार के मरणों का उल्लेख करके उनमें विशिष्ट पाँच[1] तरह के मरणों का वर्णन करते हुए तीन मरणों को प्रशंसनीय एवं श्रेष्ठ बतलाया है। वे तीन[2] मरण ये हैं — १ पण्डितपण्डितमरण २ पण्डित मरण और ३ बालपण्डितमरण।

उक्त मरणों को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है[3] कि चउदह। गुणस्थानवर्ती अयोगकेवली भगवान का निर्वाण-गमन पण्डितपण्डितमरण'

---

१ पंडिदपंडिदमरणं पंडिदयं बाल-पंडिदं चेव।
बाल-मरणं चउत्थं पंचमयं बालबालं च ॥ —भ० आ० गा० २६।

२ पंडिदपंडिदमरणं च पंडिदं बालपंडिदं चेव।
एदाणि तिण्णि मरणाणि जिणा णिच्चं पसंसंति ॥—भ० आ० गा० २७।

३ पंडिदपंडिदमरणे खीणकसाया मरंति केवलिणो।
विरदाविरदा जीवा मरंति तदियेण मरणेण ॥

है आचारांग-शास्त्रानुसार चारित्र [illegible] पंडित समरण' है, देशव्रती श्रावक का [illegible] है अविरत-सम्यग्दृष्टि का मरण [illegible] 'बालबालमरण' है। ऊपर जो [illegible] इन तीन समाधिमरणों का कथन [illegible] का कथन है। अर्थात् वे पण्डित मरण है [illegible]

समाधिमरण के कर्ता, [illegible] और दर्शकों की [illegible]—

शिवार्य ने इस सल्लेखना के [illegible] उसमें सहायक होने, आहार-औषध-[illegible] प्रगट करने वालों को पुण्यशाली [illegible] है। वे लिखते हैं[1] —

वे मुनि धन्य हैं, जिन्होंने संघ के [illegible] समाधिमरण ग्रहण कर चार प्रकार (दर्शन, ज्ञान [illegible]) की आराधना रूपी पताका को फहराया है।

वे ही भाग्यशाली और ज्ञानी हैं [illegible] है जिन्होंने दुर्लभ भगवती आराधना ([illegible]) प्राप्त किया है।

'जिस आराधना को संसार में [illegible] की [illegible]

पाओपगमण मरणं भत्तपण्णा य इंगिणी [illegible]
तिविहं पंडिमरणं साहुस्स जहुत्तचरियस्स [illegible]
अविरदसम्मादिट्ठी मरंति बालमरणे [illegible]
मिच्छादिट्ठी य पुणो पडमए बालबालम्मि [illegible] गा २८, २९।

१ ते सूरा भयवंता आपुच्छइऊण संघ [illegible]
आराधणा-पडाया च उप्पयारा [illegible]
ते धण्णा ते णाणी लद्धो लाभो य तेहिं [illegible]।
आराधणा भयवदी पडिवण्णा जेहिं संपुण्णा [illegible]
किं णाम तेहिं लोगे महाणुभावेहिं हुज्ज [illegible]।
आराधणा भयवदी सयला आराधिदा जेहिं [illegible]

नहीं कर पाते, उस महात्मा को जिन्होंने पूर्णरूप से प्राप्त किया, उनकी महिमा का वर्णन कौन कर सकता है ?"

वे महानुभाव भी धन्य हैं, जो पूर्ण आदर और समस्त शक्ति के साथ क्षपक की आराधना कराते हैं।

जो धर्मात्मा पुरुष क्षपक की आराधना में उपकरण, आहार-पान, औषध व स्थानादि के दान द्वारा सहायक होते हैं वे भी समस्त आराधनाओं को निर्विघ्न पूर्ण करके सिद्ध पद को प्राप्त होते हैं।

वे मनुष्य भी पुण्यशाली हैं कृतार्थ हैं जो पापकर्मरूपी मल को छुड़ाने वाले क्षपक रूपी तीर्थ में सम्पूर्ण भक्ति और आदर के साथ स्नान करते हैं। अर्थात् क्षपक के दर्शन, वन्दना और पूजन में प्रवृत्त होते हैं।

यदि पर्वत नदी आदि स्थान तपोधनों से सेवित होने से तीर्थ कहे जाते हैं और उनकी सभक्ति वंदना की जाती है तो तपोगुण की राशि क्षपक तीर्थ क्यों नहीं कहा जावेगा ? अर्थात् उसकी वन्दना और दर्शन का भी वही फल प्राप्त होता है जो तीर्थ-वन्दना का होता है।

यदि पूर्व ऋषियों की प्रतिमाओं की वन्दना करने वाले को पुण्य होता है तो साक्षात् क्षपक की वन्दना एवं दर्शन करने वाले पुरुष को प्रचुर पुण्य का संचय क्यों नहीं होगा ? अर्थात् अवश्य होगा।

ते चि य महाणुभावा धण्णा जेहिं च तस्स खवयस्स ।
सव्वादर-सत्तीए उवविहिदाराधणा सयला ॥
जो उवविधेदि सव्वादरेण आराधणं खु अण्णस्स ।
संपज्जदि णिव्विग्घा सयला आराधणा तस्स ॥
ते वि कदत्था धण्णा य हुंति जे पावकम्म-मलहरणे ।
ण्हायंति खवयतित्थे सव्वादर भत्तिसंजुत्ता ॥
गिरि णदियादिपदेसा तित्थाणि तवोधणेहिं जदि उसिदा ।
तित्थं कधं ण हुज्जो तवगुणरासी सयं खवओ ॥
पुव्वरिसीणं पडिमाउ वंदमाणस्स होइ जदि पुण्णं ।

और भक्तिमहित आराधना की सदा [illegible] है उस पुरुष की भी आराधना निश्चित सम्पन्न होती है। इस प्रकार समाधिपूर्वक मरण कर उत्तम गति को प्राप्त होता है।

सल्लेखना आत्मघात नहीं है।

यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि सल्लेखना [illegible] न समझ लिया जाय [illegible] आत्मघात और [illegible] में बड़ा अन्तर है। आत्मघात तो [illegible] प्रमाद, विष भक्षण, [illegible] आदि घातक क्रियाओं से किया जाता है [illegible] और कषायादिक भावों का सद्भाव है [illegible] सल्लेखना यथाशक्ति शान्तिपूर्वक मरण है [illegible] है।

क्या जैनेतर दर्शनों में यह सल्लेखना है?

यह सल्लेखना जैन दर्शन के सिवाय अन्य दर्शनों में [illegible] होती। हाँ, योगसूत्र आदि में ध्यानात्मक समाधि का [illegible] अवश्य पाया जाता है। पर उसका [illegible] भिन्न है [illegible] है। उसका प्रयोजन केवल सिद्धियों के प्राप्त करने [illegible] में है। वैदिक साहित्य में वर्णित सोलह संस्कारों में एक [illegible] संस्कार' आता है[1] जिसे ऐहिक जीवन के अन्तिम [illegible] कहा गया है[2] और जिसका दूसरा नाम [illegible] है [illegible] संस्कार का मृत क्रिया के साथ सम्बन्ध [illegible] है, किन्तु मृत संस्कार सामाजिकों अथवा सामान्य लोगों के [illegible] है। सिद्ध

> सर्वसङ्ग [illegible] [illegible] ॥
> [illegible] आराधय [illegible]
> [illegible] ॥
>
> —[illegible] १११०-४

१, २ डा० राजबली पाण्डेय हिन्दूसंस्कार पृ० २९६।

महात्माओं संन्यासियों या भिक्षुओं का नहीं क्योंकि उनका परिवार से कोई सम्बन्ध नहीं रहता और इसलिए उन्हें अन्त्येष्टि क्रिया की आवश्यकता नहीं रहती[1]। उनका तो जल निखात या भू निखात किया जाता है[2], यह भी ध्यान देने योग्य है कि हिन्दु धर्म के अन्त्येष्टि सम्पूर्ण क्रियाओं में मृत व्यक्ति के विषय भोग तथा सुख-सुविधाओं के लिए ही प्रार्थनाएँ की जाती हैं। हमें उनके आध्यात्मिक लाभ अथवा मोक्ष के लिए इच्छा का बहुत कम संकेत मिलता है। जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति पाने के लिए कोई प्रार्थना नहीं की जाती[3]। पर जैन सल्लेखना में पूर्णतया आध्यात्मिक लाभ तथा मोक्ष-प्राप्ति की भावना स्पष्ट सन्निहित रहती है लौकिक एषणाओं की उसमें कामना नहीं होती। इतना यहाँ ज्ञातव्य है कि निर्णय-सिन्धुकार ने ब्रह्मचारी गृहस्थ और वानप्रस्थ के अतिरिक्त आतुर अर्थात मुमूर्षु (मरणाभिलाषी) और दुःखित अर्थात चोरव्याघ्रादि से भयभीत व्यक्ति के लिए भी संन्यास का विधान करने वाले कतिपय मतों का उल्लेख किया है[4]। उसमें कहा गया है कि 'संन्यास लेनेवाला आतुर

---

१ डा० राजबली पाण्डेय हिन्दू संस्कार पृ० ३०३।

२ हिन्दूसंस्कार पृ० ३०३ तथा कमलाकरभट्टकृत निर्णयसिन्धु पृ० ४४७।

३ हिन्दूसंस्कार पृ० ३४६।

४ संन्यसेद् ब्रह्मचर्याद्वा संन्यसेच्च गृहादपि।
वनाद्वा प्रव्रजेद्विद्वानातुरो वाऽथ दुःखितः॥
उत्पन्ने संकटे घोरे चोर-व्याघ्रादि-गोचरे।
भयभीतस्य संन्यासमङ्गिरा मनुरब्रवीत्॥
यत्किञ्चिद्बन्धकं कर्म कृतमज्ञानतो मया।
प्रमादालस्यदोषाद्यत्तत्सर्वं सन्त्यक्तवानहम्॥
एवं सन्त्यज्य भूतेभ्यो दद्यादभयदक्षिणाम्।
पद्भ्यां कराभ्यां विहरन्नाहं वाक्कायमानसैः॥
करिष्ये प्राणिनां हिंसां प्राणिनः सन्तु निर्भयाः।

—कमलाकरभट्ट, निर्णयसिन्धु पृ० ४४७।

अथवा दुःखित यह संकल्प करता है कि मैंने जो प्रमाद, प्रमाद या आलस्य दोष से बुरा कर्म किया उसे मैं छोड़ रहा हूँ और सब जीवों को अभय-दान देता हूँ तथा विचरण करते हुए किसी जीव की हिंसा नहीं करूंगा। किन्तु यह कथन संन्यासी के मरणान्त-समय के विधि-विधान को नहीं बतलाता केवल संन्यास लेकर आगे की जाने वाली मर्यादारूप प्रतिज्ञा का दिग्दर्शन कराता है। स्पष्ट है कि यहाँ संन्यास का वह अर्थ विवक्षित नहीं है जो जैन- सल्लेखना का अर्थ है। संन्यास का अर्थ यहाँ साधुदीक्षा—कर्मत्याग—संन्यास नामक चतुर्थ आश्रम का स्वीकार है और सल्लेखना का अर्थ अन्त (मरण) समय में होने वाली क्रिया विशेष[1] (कषाय एवं कायका कृशीकरण करते हुए आत्मा को कुमरण से बचाना तथा आचरित संयमादि आत्म धर्म की रक्षा करना) है। अतः सल्लेखना जैन दर्शन की एक विशेष देन है जिसमें पारलौकिक एवं आध्यात्मिक जीवन को उज्ज्वलतम तथा परमोच्च बनाने का लक्ष्य निहित है। इसमें रागादिसे प्रेरित होकर प्रवृत्ति न होने के कारण वह शुद्ध आध्यात्मिक है। निष्कर्ष यह है कि सल्लेखना आत्म-सुधार एवं आत्म-संरक्षण का अंतिम और विचार पूर्ण प्रयत्न है।

---

१ वैदिक साहित्य में यह क्रिया-विशेष भृगु-पतन, अग्नि-प्रवेश जल-प्रवेश आदिके रूपमें मिलती है। जैसा कि माघ के शिशुपालवध की टीकामें उद्धृत निम्न पद्य से जाना जाता है

अनुष्ठानासमर्थस्य वानप्रस्थस्य जीवतः।
भृग्वग्नि-जल-सम्पातैर्मरणं प्रविधीयते॥

—शिशुपालवध ४-२३ की टीका में उद्धृत

किन्तु जैन संस्कृति में इस प्रकार की क्रियाओं को मान्यता नहीं दी गई और उन्हें लोकमूढता बतलाया गया है —

आपगा-सागर-स्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम्।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते॥

समन्तभद्र रत्नकरण्ड

अ० भा० दि० जैन शास्त्री परिषद् द्वारा प्रकाशित ट्रैक्टों पर सम्मतियाँ

बुक पोस्ट द्वारा तीनों ट्रैक्ट्स प्राप्त हुये। 'अकालमरण' जैसे गूढ विषय को विद्वान् नियति-अनियति के आधार पर प्रामाणिकता के साथ इस ट्रैक्ट द्वारा विश्लेषणात्मक व्याख्या की गई है। जैन दर्शन में सर्वज्ञता को विद्वत्तापूर्ण ढंग से तुलनात्मक और अन्य दर्शनों द्वारा की गई व्याख्या से श्रेष्ठतर सिद्ध की गई है। अत्यन्त सुबोध और हृदयग्राही शैली में लिखा गया 'हस्तिनापुर का गौरव' इस ट्रैक्ट साहित्य में मील का पत्थर है। आप कृपया यह शैली निरन्तर चालू रखिये। स्तुत्य प्रयास के हेतु मेरी हार्दिक बधाइयाँ।

—कविरत्न प्रकाश जैन, पटना।

"तीन ट्रैक्ट मिले। यह योजना बहुत अच्छी है, इस से समाज को लाभ होगा।"

—पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य सागर।

"आपके द्वारा भेजी गई तीनों पुस्तकें यथासमय मिलीं। पुस्तकें बहुत सुन्दर हैं।"

—पं० वंशीधर व्याकरणाचार्य, बीना।

"आपकी भेजी हुई तीनों पुस्तकें मिलीं। इसके लिए धन्यवाद है।"

—पं० मक्खनलाल, देहली।

"तीनों पुस्तकें अत्यन्त उपयोगी एवं सामयिक हैं। 'हस्तिनापुर गौरव' सरीखी अन्य क्षेत्रों की सामग्री आप प्रकाशित करें तो समाज का बड़ा लाभ होगा।"

—पं० अमृतलाल दर्शनाचार्य, वाराणसी।

★ ★ ★ ★

'आपके द्वारा लिखे [illegible] बहुत ही [illegible] पूर्ण तथा [illegible] प्रमाण सहित हैं। भाषा [illegible] है।'

—श्री [illegible] जैन देहली

★ ★ ★ ★

[illegible] में जो तीन पुस्तकें आई हैं अति उत्तम हैं। [illegible] हस्तिनापुर का वर्णन [illegible] उत्तम ढंग से लिखा गया है।

—पं० [illegible] चन्द जैन [illegible]

★ ★ ★ ★

दोनों ट्रैक्ट बहुत ही उपयोगी व सामयिक हैं। आशा है समाज व विद्वान [illegible] लाभ लेंगे।

—पं० [illegible] चन्द जैन [illegible]

★ ★ ★ ★

'पं० रतन चन्द जी द्वारा [illegible]' सामयिक पुस्तिका है जिसका अध्ययन विशेष महत्त्वपूर्ण है। समाज के माने हुये विद्वान पं० [illegible] जी ने जैन दर्शन [illegible] नामक लघु पुस्तिका [illegible] रख दिया है। जैन समाज के [illegible] विद्वान पं० [illegible] जैन [illegible] के नाम [illegible] कौरव पाण्डवों की क्रीड़ास्थली [illegible] शान्ति नाथ [illegible] नाथ, [illegible] नाथ की जन्मस्थली हस्तिनापुर का [illegible] की है [illegible] किया'।

—मोती लाल जैन [illegible]